# सत्यांश

*युगसेतु* के एक साल की यात्रा का प्रमाण है यह श्रम केन्द्रित अंक। इसी विषय से संबद्ध 'कर्म' अंक पहले निकल चुका है। वैसे तो पुनः हमारा यही विचार है कि दुनिया के सारे विचार व वस्तुएँ परस्पर संबद्ध भी हैं और असंबद्ध भी हैं। प्रकाशन के आरंभ से ही पत्रिका को किसी-न-किसी मूल विचार पर केन्द्रित रखने का प्रयास किया गया है। समाज-संसार में परिवर्तन और विकास होते रहे हैं, संस्कृतियाँ, मान्यताएँ बदलती रही हैं, परंतु सारे बदलावों, उतार-चढ़ावों, संघर्षों, विद्रोहों के बावजूद सृष्टि की धुरी कुछएक मूल विचारों वाले केन्द्रों पर टिकी होती है, इसलिए क्षणिकता और तात्कालिकता में भी जहाँ चिरंतनता की संभावना दिखती है, वहाँ से बुनियादी तत्त्वों को पकड़ने का काम किया गया है। वैसे तो हम चाहें या न चाहें, व्यक्ति, समाज और संसार हर क्षण बदलता है, परंतु ऐसे निरे बदलाव व स्थिरता का कोई मूल्य नहीं है। इसलिए जड़तापूर्ण स्थिरता और सतही बदलाव की बजाय मूल भावों-विचारों को समझने का प्रयास आवश्यक है। यद्यपि हमेशा इसका सार्थक प्रभाव नहीं दिखाई देता हो, तब भी इसका उल्टा प्रभाव तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होता ही है।

सामान्य विचार यही है कि जहाँ श्रम किया जाता है और जहाँ ऊर्जा की खपत होती है, वहाँ काम होता है, लेकिन विज्ञान इस बात को नहीं मानता। वह यह तो मानता है कि कर्म के लिए श्रम रूपी ऊर्जा का होना अनिवार्य है; परंतु श्रम की ऊर्जा की खपत के बावजूद कार्य संपन्न हो ही जाए, यह जरूरी नहीं है। विज्ञान में यह काम बहुत कुछ 'परिणाम' या उसके अति सन्निकट की स्थिति है; परंतु परम्परागत रूप से जो श्रम व कर्म का विचार है, वह परिणाम अथवा फल नहीं है। श्रम, ऊर्जा, बल, परिश्रम आदि के लगने पर काम, कार्य या कर्म होता है, पर कर्म ही फल या परिणाम नहीं है। फल या परिणाम कार्य के बाद का सोपान है, इसलिए फल-परिणाम की चिंता किए वगैर कर्म करने की प्रेरणा भारतीय वांग्मय में दी गई है। कार्य पहला पड़ाव है और फल-परिणाम उसके बाद का। इसीलिए बारीकी में यही माना जाता है कि कर्म संपादन से अपेक्षित फल प्राप्त हो ही जाए, यह आवश्यक नहीं। इसके साथ एक सामान्य नियम यह भी है कि कर्म करने से ही फल-परिणाम की प्राप्ति होती है, बिना कर्म किए फलापूर्ति नहीं होती। यद्यपि आज की स्थिति में यह कहना सपाटबयानी ही होगा, क्योंकि बहुत सारे लोग खूब श्रम करते हैं; परंतु बुनियादी सुविधाओं से वंचित हैं, तो दूसरी ओर राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय पेंचदगियों, भ्रष्टाचार, लालफीताशाही और काले धंधे में या तो श्रम है ही नहीं, या गलत रूप में है, फिर भी इसी को अपना कर लोग संपन्न समृद्ध बन जाते हैं। वे इच्छित फल तक पहुँच जाते हैं। क्या यहाँ श्रम की सत्ता में खोंट है या श्रम का मूल्यांकन करने वाले की नीयत में, यह विचारणीय प्रश्न है। काम छोटा हो या बड़ा, उसे किसी-न-किसी फल की मंशा के तहत ही किया जाता है। बिना फल परिणाम की चिंता किए कार्य क्यों संपन्न होना चाहिए, उसकी उपयोगिता क्या होगी यह सोचना जरूरी है। सही भी लगता है कि यदि कोई ध्येय न हो, तो व्यक्ति या जीव कार्य क्यों करेगा। गीता में इसका उत्तर श्रीकृष्ण ने दिया है कि इसलिए करेगा, क्योंकि बिना कर्म किए एक क्षण भी जीवन-निर्वाह संभव नहीं है।

यदि चाहकर काम न भी किया जाए, तो हमसे हर क्षण ऐसे क्रियाकलाप होते हैं जो बिल्कुल अनायास होते हैं। ऐसे कार्य अपने आप घटित होते हैं, जैसे साँस लेना, चलना, बोलना, मौन, स्थिरता आदि। हमारे शरीर के भीतर और प्राणवायु के स्तर पर प्रत्यक्षतः-प्रच्छन्नतः कार्य निरंतर होते रहते हैं। अब आप कहेंगे कि यह भी कोई काम है? यह तो सब जीवों में प्राकृतिक रूप में होता ही रहता है। इसके उत्तर में इन्हें कार्य से बाहर कर भी दिया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि यदि साँस लेना प्राकृतिक श्रम है, बोलना स्वाभाविक क्रिया है, तो मौन या चुप्पी श्रम की साधना की माँग करता है। स्थिर रहने के लिए, चुप्पी साधने के लिए, साँस रोकने के लिए, उपवास के लिए, पूजा-अर्चना के लिए और यहाँ तक कि सोने के लिए भी श्रम करना पड़ता है। जो खूब मेहनत-परिश्रम करते हैं, खासकर शारीरिक रूप से, उन्हें अच्छी नींद आती है, हालाँकि अत्यधिक थकान भी नींद का दुश्मन है। लेकिन जो शारीरिक श्रम नहीं करते हैं, अथवा चौबीसों घंटे आराम फरमाते हैं, उन्हें नींद में आने के लिए ही श्रम करना पड़ता है। इस प्रकार स्वाभाविक गति में काम यदि स्वतः या सायास ही संचालित भी होता है, तो अस्वाभविक दिशा में उस कार्य को रोकना भी श्रम ही है। इसलिए जहाँ सोना स्वाभाविक क्रिया है, वहीं सोने से बचना भी कर्म ही है। बहुत सारे पहरेदार-गार्ड जागकर ही तो अपनी ड्यूटी निभाते हैं। इसी का पारिश्रमिक उन्हें मिलता है। दूसरे समय जब दुनिया काम कर रही होती है, तब वे सो रहे होते हैं। उनका यह सोना प्रत्यक्ष रूप से काम ही है, सीधे कार्य संपादन के लिए यह जरूरी है। इस प्रकार श्रम और विश्राम, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, परस्पर पूरक हैं। एक की पूर्णता के लिए दूसरे की बेहतरी आवश्यक है, सोने के लिए जागना यानी विश्राम के लिए श्रम

और जागने के लिए सोना यही तो प्रकृति का नियम है। परंतु इस दुनिया की भागदौड़ में आराम हराम हो गया है और हराम का काम बढ़ गया है। इसलिए न कोई ठीक से आराम कर पाता है और न ठीक से काम कर पाता है।

पहले श्रम और कार्य की ही बात की जाए, फल-परिणाम की नहीं, क्योंकि फल-परिणाम तक पहुँचने से पूर्व बहुत-सारे चरण हैं जो मनःस्थितियों कार्य-पद्धतियों, घात-प्रतिघातों, क्षमताओं, छल-छद्मों, समस्याओं-संकटों व अवरोधों तथा भाग्य एवं नियति के खेल से होकर गुजरते हैं। इस कार्य-यात्रा में यह नियम बिल्कुल प्रतिकूल सिद्ध होता है कि 'करम प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करई सो तस फल चाखा।' यह कहना तभी तक सार्थक लगता है, जब तक हम सद्कर्म नहीं कर पाते। सद्कर्म का फल क्या, सद्कर्म करना ही आसान नहीं है, फिर 'जो जस करई' का अवसर ही कहाँ मिलता है? क्या जैसा हम करना चाहते हैं, वही कर पा रहे हैं? या वही करने दिया जा रहा है? जब मनचाहा कार्य ही नहीं कर पा रहे, तो मनचाहा फल कैसे मिलेगा? यहाँ उन गलत या बुरी आदत वाले कार्य को करने की स्वतंत्रता की चाह नहीं है, बल्कि अच्छे काम और उसमें श्रम लगाने के मौके की बात हो रही है। इसलिए विशाल मानव श्रम रूपी संपदाओं का वैश्विक स्तर पर सदुपयोग अधिक नहीं हो रहा है। या तो इसका दुरूपयोग हो रहा है अथवा ज्यादातर श्रम स्वतः विनष्ट होता जा रहा है।

जैसे कर्म के संपादन पर भी अनुकूल फल की प्राप्ति की गारंटी नहीं, उसी प्रकार श्रम लगने पर भी कार्य होना आवश्यक नहीं। जैसे किसी दीवार को पीछे धकेलने के लिए हम बहुत जोर लगाते हैं। वहाँ हमारा श्रम भी लगता है, ऊर्जा की खपत भी होती है, पसीना व खून गिरता है, थकान होती है, बावजूद इसके काम नहीं होता, दीवार नहीं खिसकती। वैज्ञानिक रीति से ऐसा श्रम काम नहीं माना जाएगा। काम तभी माना जाएगा, जब दीवार स्थानांतरित हो। दुनियादारी या समय के साथ चलने वाले तो यही बताते हैं कि अपनी क्षमता को ही देखकर काम करें। अब पहले ही कैसे मान लिया जाए कि यह होगा और वह नहीं होगा? फिर तो नेपोलियन के असंभव शब्द को मूर्खों के शब्द कोश से हटाकर विवेकशील, होशियार, चालाक लोगों के शब्दकोश में ही रखना पड़ेगा। जब श्रम से काम होने की ही गारंटी नहीं, तो फल क्या मिलेगा? फिर भी चाहे सुकर्म के लिए यदि 'व्यर्थ का श्रम करना पड़े' तो यह भी महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में श्रम और उसकी शक्ति भी यहीं सार्थक है। बिना मन के या लाचारी का बढ़िया परिश्रम श्रम का नाटक ही अधिक है। ऐसे बेमन के श्रम से श्रम करने वालों को खुशी नहीं मिलती है और न उन्हें खुशी मिलती, जो ऐसा करवाता है, उसे ऐसे श्रमिकों की हूक-हाय ही अधिक लगती है।

कर्म ही फल नहीं है और कर्म ही फल भी है। यह दोनों विचार साथ-साथ चलते रहे हैं। श्रम से काम होता है और काम से फल मिलता है। फल की गारंटी नहीं, इसलिए कर्म पर जोर दिया गया है। कर्म पर अत्यधिक जोर के कारण यह फल सदृश हो गया है। इसी में उमंग-उत्साह, आनंद खोजकर मन मजबूत किया जा सकता है। काम अपनी सदिच्छा के अनुसार ही संपन्न होना चाहिए, न कि किसी लोभ-लालच, भय, प्रपंच में फँसकर, तभी इसका दीर्घकालिक लाभ मिलेगा। परंतु आज जो श्रम करते हैं, वे अधिकतर मजबूरी में ही करते हैं, फलतः इस श्रम से उनका सीधा स्वार्थ तो पूरा हो जाता है, पर व्यापक स्तर पर मन दुर्बल हो जाता है। वैसे तो भिखारी से लेकर धन्ना सेठ तक, सब श्रम व कर्म कर ही रहे हैं, अपने-अपने ढंग से अपने लिए, और इनमें देश-दुनिया और मानवता के हित का दावा भी शामिल रखते हैं, लेकिन यह श्रम है, अथवा श्रम के साथ दगाबाजी, यह सोचना जरूरी है। यहीं प्रश्न उठता है कि कहाँ श्रम किया जाए और कहाँ नहीं किया जाए? श्रम जितना अच्छे कार्य में लगता है, उतना ही या उससे कई गुणा अधिक बुरे में भी, अतः खाली श्रम का गुण कभी नहीं गाया जा सकता, खाली श्रम करते रहने से भी कुछ नहीं होता?

## बिहारी काम करना बंद कर दें तो....

*बिहार* उत्सव के मौके पर बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार ने दिल्ली में एक गैर-जिम्मेदारी भरा बयान दे दिया कि अगर बिहारी दिल्ली में काम करना बंद कर दें तो दिल्ली महानगर ठहर जाएगा। नीतीश कुमार का यह बयान एक प्रकार की शेखी ही है और वास्तविकता से परे भी है। नीतीश कुमार के तमाम दावों के बावजूद बिहार से पलायन नहीं रूक रहा है। लोग शिक्षा से लेकर रोजगार तक के लिए बिहार से बाहर जाने-रहने को मजबूर हैं। ठीक ढंग से जीवन-यापन के लिए और अच्छी शिक्षा व बढ़िया रोजगार हेतु बिहार से बाहर भी रहते हुए अपने को विकसित करने में कोई बुराई नहीं है। लेकिन समस्या तब खड़ी होती है, जब मेहनत-मजदूरी करके अपने लिए दो जून की रोटी का इंतजाम करने वाले मेहनतकश मजदूरों को भी अपना पेट पालने के लिए बाहर जाना ठीक लगता है। दिल्ली महानगर में इस तरह जीवन-यापन करने वाले बिहारियों की संख्या ही अधिक है। इस प्रकार दिल्ली सहित अन्य जगहों पर यदि बिहारी काम करना बंद कर दें तो नगर महानगर क्या रूकेंगे, हाँ, शायद बिहारियों को दो जून की रोटी भी न मिलें और उनका जीना मुहाल हो जाए। वस्तुतः राजनीतिक नेतृत्व लोगों की भावनाओं को अपने पक्ष में भुनाने के लिए जिन राजनीतिक जुमलों का इस्तेमाल करता है, उनका लोगों के वास्तविक सरोकारों से कुछ लेना-देना नहीं होता है।

पिछले दिनों बिहारी अस्मिता से जोड़कर मुख्यमंत्री द्वारा

आत्मप्रचार इस प्रकार किया गया, ताकि लगे कि बिहार में नीतीश कुमार के मुख्यमंत्रित्व काल से पहले कुछ था ही नहीं, नीतीश कुमार ने ही सारा कायाकल्प किया है। यह प्रायोजित प्रचार है। यह ठीक है कि कुछ बनियादी ढाँचों पर काम जरूर हुए हैं, जिनके कारण 'कुछ नहीं से थोड़ा अच्छा' की तरह लोगों ने नीतीश कुमार को जनादेश दिया है। फिर भी सरकारी कार्यालयों, विद्यालयों, अस्पतालों, विश्वविद्यालयों की दुर्दशा दयनीय है। कुछ सांकेतिक व गिने-चुने तथा प्रतिशोधी भ्रष्टाचार के मामले ही उजागर हुए हैं, बाकी जगह भ्रष्टाचार नये रूप में जड़ जमा चुका है। शिक्षा मित्रों की नियुक्ति से लेकर विद्यालयों के निर्माण में जितनी धांधली सुनी-देखी गई है, उतनी पहले कभी नहीं दिखी। इसलिए मौजूदा बिहार से पलायन करना आत्मनिर्भर रहकर सम्मानपूर्वक जीवन जीने का ही एक उपाय है। बिहार के विकास में स्थानीय बुनियादी ढाँचों का योगदान जितना है, उससे अधिक पलायन से बाहर गए लोगों के आर्थिक स्रोतों से प्राप्त आय का है। चाहे शिक्षा का मामला हो, या अच्छे रोजगार का या फिर मजदूरों के परिश्रम का, सब बिहार से बाहर निकलकर अपनी प्रतिभा-क्षमता का लोहा मनवाकर ही अपना स्थान बना सके हैं और अपने ढंग से अपनी क्षमता के अनुसार गाँव-घर की प्रगति में सहायक बने हैं। बिहारी प्रतिभा और परिश्रम पर नाज तो किया जाता है, पर उसके उत्थान में हम कितने सहयोगी-सहभागी रहे हैं, यह सोचना लाजिमी है, उल्टे ऐसे बयानों और कार्यों से उनकी टाँग ही अधिक खींची जाती है और बिहार से बाहर भी उनके लिए समस्या पैदा की जाती है। किसी अच्छे राजनीतिज्ञ को यह शोभा नहीं देता कि अपने लोगों के लिए जहाँ-तहाँ जाकर समस्या पैदा करे।

बिहार के स्थापना दिवस के उत्सव के नाम पर पैसे बहाए जा रहे हैं जो बिहार दिवस कम, नीतीश कुमार के निजी प्रचार का जरिया बन रहा है। प्रचार में बिहार की बनावटी छवि दिखाने की बजाय वास्तविक छवि दिखाई जाए तो वह ज्यादा अच्छी होगी। बिहार सरकार के खिलाफ चाहे सीएजी की रिपोर्ट हो, या बुनियादी ढाँचों के सुदृढ़ीकरण की विफलता, बिहार उत्सव के नाम पर नीतीश कुमार उस पर मुलम्मा ही चढ़ा रहे हैं। नीतीश कुमार की सरकार में ज्यादातर वही मंत्री हैं जो पिछली सरकारों में थे। तब वे कैसे थे, लेकिन नीतीश कुमार के साथ आकर अच्छे हो गए हैं? नीतीश सरकार के बारे में सीएजी रिपोर्ट में इस बात की कलई खुलती है कि 82 हजार करोड़ रुपए की अनियमितताएँ हुई हैं, दूसरी ओर विकास के लिए मिली रकम को खर्च नहीं किया जा सका। यह भी ईमानदारी है कि पैसे बेईमानी से खर्च नहीं किए, वरन् ईमानदारी से वापस कर दिए। जहाँ खर्च करना है वहाँ खर्च नहीं होता और जहाँ खर्च होता है, वहाँ उसकी ज्यादा जरूरत नहीं।

आखिर आर्थिक रूप से अशक्त बिहार से बाहर ग्लैमर-चकाचौंध से बिहार उत्सव मनाकर नीतीश कुमार क्या संदेश देना चाहते हैं, यही कि बिहारियों की धाक पूरे देश में जम चुकी है और वे खुद इसके कर्त्ताधर्ता हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि बिहारियों की जीवट स्थिति जो उनसे पहले थी, वही अब भी है। यह सरकारों के बदलने-बिगड़ने पर निर्भर नहीं रहा है, अपितु अपनी जीवट अभीप्सा, अदम्य कर्मठता और सचेतन प्रतिभा के बल पर निरंतर विद्यमान रहा है। यही इसकी मूल पहचान भी है कि परिस्थितियाँ चाहे उल्टी हों या सीधी, राजनीतिक व प्रशासनिक नेतृत्व अनुकूल हो या प्रतिगामी बिहारी मानस हर स्थिति में अपनी अस्मिता की रक्षा करना जानता है।

## चुनाव परिणाम के दूरगामी संकेत

*दिल्ली* नगर निगम चुनाव के नतीजे अनुमानों-अंदाजों के अनुरूप ही रहे। दिल्ली की शीला सरकार ने दिल्ली नगर निगम को यह सोचकर तीन भागों में बाँटा था कि चुनाव परिणाम में कांग्रेस को कुछ हाथ लग जाए। इसमें शीला दीक्षित एक स्तर पर सफल भी रहीं, क्योंकि दक्षिण दिल्ली में भाजपा को अपने दम पर बहुमत नहीं मिल सका है। 104 सीटों वाले निगम में उसे 44 सीटें ही मिल सकीं। अनिवार्य बहुमत से कम से कम 9 सीटें कम प्राप्त हुई हैं। पूरी दिल्ली के चुनाव परिणाम को देखा जाए तो 272 सीटों वाले निगम में भाजपा को 138 सीटें मिली हैं। यदि पहले की भाँति संपूर्ण दिल्ली के लिए एक ही निगम होता तो भाजपा को साधारण बहुमत अपने दम पर प्राप्त हो गया होता। उसे साधारण बहुमत के लिए 137 सीटें जरूरी होतीं और उसे 138 मिल चुकी हैं। यह अलग बात है कि 2007 के निगम चुनाव में उसे 164 सीटें मिली थीं। तब एक प्रकार से दिल्ली में कांग्रेस के खिलाफ सीलिंग जैसे मुद्दों के कारण माहौल तैयार हो गया था। इस बार ऐसा कोई मुद्दा तो नहीं था, लेकिन समाजसेवी अन्ना हजारे के लोकपाल हेतु आंदोलन और भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम, स्वामी रामदेव के काले-धन को वापस लाने का संघर्ष और महँगाई जैसे मुद्दों के कारण एक प्रकार से कांग्रेस के खिलाफ ही वातावरण बनता दिखा। इन आंदोलनों में सबसे अधिक भागीदारी और असर दिल्ली में ही रहा, फलतः दिल्ली में कांग्रेस के विरूद्ध अंतर्मानस में एक जगह बन गई। निगम में भाजपा के काम बहुत अच्छे नहीं थे, परंतु लोगों को कांग्रेस को हराना था, इसलिए गैर-कांग्रेस पार्टियों को वोट दिए। चूँकि भाजपा ही कांग्रेस का दिल्ली में परम्परागत रूप से विकल्प रही है, अतः उसे इसका फायदा अधिक मिला। जनता भाजपा से भी खुश नहीं है, अतः गैर कांग्रेसी और गैर भाजपा दलों सहित निर्दलीय उम्मीदवारों ने दिल्ली के इतिहास में रिकार्ड जीत दर्ज की है। इस बार उनकी संख्या 57 तक पहुँच गई है जो दिल्ली नगर निगम की कुल सीटों की संख्या का 20 प्रतिशत से भी अधिक है। दक्षिणी दिल्ली

निगम में किसकी सत्ता होगी, यह तय करने में इनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण होगी।

पाँच राज्यों के विगत चुनाव परिणाम भी गैर-कांग्रेस और गैर-भाजपा विकल्पों पर ज्यादा भरोसा दर्शाते हैं। उत्तर प्रदेश में लोगों ने बसपा के विकल्प के रूप में समाजवादी पार्टी को जिताया, तो उत्तराखण्ड में भाजपा से नाराजगी जताते हुए भी कांग्रेस को पूर्ण बहुमत नहीं दिया। पंजाब में कांग्रेस को सत्ता से बाहर रखा तो भाजपा की सीटें घटा दीं। मणिपुर में विकल्पहीनता के कारण कांग्रेस सत्तासीन हुई तो गोवा में कांग्रेस की दल-बदल रणनीति को खत्म कर भाजपा को अपने दम पर बहुमत दिया। इन पूरे संकेतों और परिणामों से यही लगता है कि लोग कांग्रेस और भाजपा से हटकर बेहतर विकल्प चाहते हैं, जो फिलहाल सशक्त और सुसंगठित रूप में दिखाई नहीं देता। अतीत में दोनों के विकल्पों के अनुभव भी अच्छे नहीं रहे हैं। मजबूत विकल्प के अभाव में इन्हीं में से किसी एक का सहयोग लेकर विकल्प बनाना पड़ता है। गैर-कांग्रेस और गैर-भाजपा दलों का अपने बहुमत का दम साबित नहीं हुआ है और ऐसी सशक्त संभावना दूर-दूर तक दिखाई भी नहीं देती। फलतः एक ऐसी विकल्पहीनता की स्थिति बन गई है जहाँ विकल्पों की चाह तो है, पर विकल्प नहीं हैं। इसका फायदा इन्हीं दोनों पार्टियों को हो रहा है।

यद्यपि आज के हालात में कांग्रेस हो या भाजपा, दोनों अपने दम पर केन्द्र में सरकार बनाने में अक्षम हैं, इसलिए अपना-अपना गठबंधन बनाकर सत्ता संभालने की संभावनाएँ तलाशते हैं और उनमें सफल भी हुए हैं। भाजपा, कांग्रेस को अपने दम पर केन्द्र में बहुमत या बहुमत के करीब पहुँचने में कितनी ही दिक्कत हो, पर उनकी अकेले अपनी सीटों की संख्या इतनी अवश्य होती है, जिसके आस-पास दूसरे दल या गठबंधन नहीं पहुँच पाते हैं। यह स्थिति आज भी बनी हुई है, अतः गठबंधन भी उन्हीं के नेतृत्व में कामयाब हो पाता है और घूम-फिर कर बात वहीं आ जाती है। गैर-कांग्रेस और गैर-भाजपा दल जो दूर भी रहना चाहते हैं, उन्हें विकल्पों की तलाश में इनमें से ही किसी एक से मजबूरी में गठजोड़ करना पड़ता है। फलतः स्वतंत्र विकल्पों की संभावना खत्म हो जाती है। कांग्रेस या भाजपा से इतर प्रायः सभी दल एक-दो राज्यों में सीमित हैं और इस रूप में क्षेत्रीय दल हैं। बेशक विगत वर्षों में इन क्षेत्रीय दलों ने केन्द्रीय स्तर पर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है और राष्ट्रीय राजनीति को अपने क्षेत्रीय वर्चस्व के कारण बहुतायात में प्रभावित भी किया है।

पिछले साल से चल रहे आंदोलनों-संघर्षों ने देशवासियों के दिल में छाप छोड़ी है, पर वह छाप ही रही, परिणाम क्या हुआ? क्या प्रयोजनों की सिद्धि हुई या होने की संभावना है? संघर्ष, क्रांति, विद्रोह एवं आंदोलन ही यदि अपने आप में ध्येय हों तो ऐसे आंदोलनों को सफल कहा जा सकता है। ऐसे में किसी भी तत्कालीन महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर यदि भीड़ जुटा ली जाए; धरना, प्रदर्शन, जूलूस, सभा, रैली का आयोजन कर लिया जाए, तो उसे सफल संघर्ष का आंदोलन कहना पड़ेगा। आजकल के अधिकतर अलख जगाने वाली योजनाएँ, प्रस्तुतियाँ, विचार, भाषण, प्रतियोगिता, सेमिनार, सभा, धरना, प्रदर्शन कार्यक्रम केन्द्रित होकर रह गए हैं। यानी कार्यक्रम की सफलता ही विचारों, आंदोलनों की सफलता मान ली जाती है। बड़े-से-बड़े राजनीतिक दलों और संगठनों के आयोजन की तैयारियों को देख लें तो वहाँ कार्यक्रम को किसी भी प्रकार सफल बनाने के लक्ष्य पर जोर होता है। इसलिए ये कार्यक्रम महज रस्मी होकर रह जाते हैं, मूल संदेश तक कभी पहुँच ही नहीं पाते। आयोजक के लिए भीड़ जुटा लेना, वक्ता के लिए बढ़िया भाषण देना एवं उस पर तालियाँ बजवाना और सहभागियों के लिए कुछ एक लोगों से संपर्क कर लेना ऐसे कार्यक्रमों की सफलता है। परंतु ऐसा नहीं कि कार्यक्रमों का महत्त्व नहीं है। वस्तुतः ऐसे कार्यक्रमों से संवाद-संप्रेषण तो होता ही है।

क्रांति और संघर्ष के साथ दृष्टि-दिशा प्रायः स्पष्ट नहीं होती और स्पष्ट होती है तो उसके कार्यान्वयन का आधार तैयार नहीं रहता और जहाँ होता है, वहाँ उसके आधार को कमजोर करने वाला तत्त्व उसी क्रांति, संघर्ष, आंदोलन में मौजूद होता है। इसलिए क्रांतिदर्शी के लिए जितना संघर्ष जरूरी होता है, उससे अधिक बाद के विकल्प की भूमिका की तैयारी और उसके लिए कार्यान्वयन का मजबूत व ईमानदार आधार खड़ा करना आवश्यक होता है, नहीं तो विद्रोह, संघर्ष, क्रांतियाँ जिनके प्रति होती हैं, अंततः अपने बदले रूप में वहीं खड़ी हो जाती हैं, जिनके विरोध की नींव पर उनका निर्माण हुआ होता है। विश्व के लगभग सारे आंदोलनों-संघर्षों का यही हश्र हुआ है।

अन्ना हजारे एवं स्वामी रामदेव के नेतृत्व में हो रहे आंदोलन पूर्व में चाहे-अनचाहे कांग्रेस के विरोध के आंदोलन बनते दिखाई दिए। ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि कांग्रेस ही केन्द्र में सत्ता में थी और भ्रष्टाचार से लेकर महँगाई रोकने तक की जिम्मेवारी भी उसी की थी, साथ ही सशक्त लोकपाल बिल पास कराने की भी। फलतः आरंभिक चरण में गैर-कांग्रेसी दलों ने भी इसमें भागीदारी की। लेकिन ऐसे आंदोलनों को कभी भी पार्टी विशेष के खिलाफ नहीं होना चाहिए और यदि किसी दल विशेष के खिलाफ होना है तो फिर एक वैकल्पिक दल की रूपरेखा रखनी चाहिए। कांग्रेस हटेगी तो आएगा कौन? और जो आएगा, वह आपकी अपेक्षाओं के अनुरूप है क्या? ऐसा सोचते ही आप दलीय राजनीति में घुस जाएँगे और आपकी विश्वसनीयता प्रभावित होगी। कायदे से ऐसे आंदोलनों को जनमानस में अन्तर्चेतना जगाकर वहीं से निकले सशक्त, विश्वसनीय, ईमानदार, कर्त्तव्यनिष्ठ नेतृत्व वाले विकल्प की रूपरेखा बनानी चाहिए, तभी ऐसे मुद्दों का सर्वग्राही समाधान और आंदोलन की चरम परिणति होगी। ☆